साम्प्रदायिक हिंसा विरोधी कानून पर कुछ नोट्स

विभूति नारायण राय

यूपीए की पिछली दो सरकारों के दौरान साम्प्रदायिक हिंसा से निपटने के लिए एक विस्तृत कानून बनाने का प्रयास हुआ था जो कई कारणों से सफल नहीं हो पाया और अब तो निकट भविष्य में ऐसे किसी कानून के अस्तित्व में आने की सम्भावना और भी कम हो गयी है। पर इस पूरी प्रक्रिया ने एक बहस को जन्म जरूर दिया था जो आज भी प्रासंगिक है।

साम्प्रदायिक हिंसा के विरुद्ध बिल के बहाने सबसे पहले इसके द्वारा बढ़े अधिकारों का उपयोग करने वाली संस्थाओं की क्षमता, इच्छा शक्ति और पूर्व में उनके द्वारा विधि से प्राप्त अधिकारों के उपयोग अथवा दुरुपयोग के इतिहास को खंगालना आवश्यक है। मुझे पूर्व में इसी बिल के ड्राफ्ट पर विचार करने के लिए आयोजित एक गोष्ठी की याद आ रही है जिसमें सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश जे.एस.वर्मा ने बहुत अच्छा सवाल उठाया कि

क्या भारत के मौजूदा कानून साम्प्रदायिक हिंसा से निपटने के लिए पर्याप्त नहीं हैं ? वे सम्भवतः पूछना चाहते थे कि अगर भारतीय राज्य में मौजूदा कानूनों की तरह इस नये कानून को लागू करने के लिए भी जरूरी इच्छा शक्ति का अभाव रहा तो इसका भी हश्र उन्हीं जैसा तो नहीं हो जायेगा? अब जब यह कानून की शक्ल लेने जा रहा है तो मेरे मन में एक और सवाल कौंध रहा है। क्या भारतीय राज्य की जिस संस्था को मुख्य रूप से इन प्राविधानों का उपयोग करना है वह इसके योग्य है भी या नहीं? अदालतों तक पहुंचने के पहले पुलिस इस नये कानून का उपयोग या दुरुपयोग करेगी। पिछला अनुभव बताता है कि विधि में उपलब्ध प्राविधानों का उपयोग पुलिस ने इस तरह किया है कि दंगों में पीड़ितों, खास तौर से अल्पसंख्यकों, के मन में हमेशा यह कसक रही है कि भारतीय राज्य ने वह सब नहीं किया जो उसे ऐसी स्थिति में करना चाहिए था या उसने वह सब किया जो उसे नहीं करना चाहिए था। 1960 के बाद के हर साम्प्रदायिक दंगे में पुलिस के ऊपर पक्षपात के आरोप लगे हैं। आरोप लगाने वालों में सिर्फ मुसलमान ही नहीं बल्कि मानवाधिकार संगठनों से जुड़े लोग, स्वतंत्र मीडिया और विभिन्न जांच आयोगों की रपटें शामिल हैं। यदि हम सरकारी आंकड़ों का ही यकीन करें तब भी हम यही पायेंगे कि हर दंगे में मरने वालों में ज्यादातर मुसलमान थे। न सिर्फ ज्यादा बल्कि अधिकांश मामलों में तो तीन चौथाई से भी ज्यादा। उस पर तुर्रा यह कि इनमें पुलिस कार्यवाही भी अधिकतर मुसलमानों के खिलाफ ही हुई। अर्थात जिन दंगों में मरने वाले अधिकतर मुसलमान थे उनमें भी पुलिस की गाज उन पर ही गिरी। मतलब ज्यादा मुसलमान गिरफ्तार हुए, अधिकतर तलाशियां भी उन्हीं के घरों की हुई और उन दंगों में भी जहां मरने वाले तीन चौथाई से अधिक मुसलमान थे वहां भी अगर पुलिस ने गोली चलायीं तो उनके शिकार भी मुख्य रूप से मुसलमान ही हुए। मुसलमानों में पुलिस के प्रति अविश्वास इतना अधिक है कि अपने एक शोध के दौरान जब मैंने दंगा पीड़ितों से एक बहुत साधारण सा प्रश्न पूछा कि क्या उस समय जब उनकी जान और माल खतरे में हो तो क्या वे मदद के लिए पुलिस के पास जाना चाहेंगे ? दुनिया के किसी भी दूसरे मुल्क में इस तरह का सवाल केवल पागल ही पूछ सकता है क्योंकि कहीं भी खतरे में पड़ने पर नागरिक राज्य की तरफ ही स्वाभाविक रूप से देखेंगे। राज्य का मुख्य कर्तव्य ही नागरिकों की जान माल की हिफाजत करना है और राज्य का सबसे दृश्यमान अंग पुलिस इस भूमिका को निभाता है। पर आप इस पर क्या कहेंगे कि मेरे प्रश्न के उत्तर में अल्पसंख्यक दंगा पीड़ितों की बहुसंख्या ने कहा कि वे उस समय भी जब उनकी जान माल खतरे में हो पुलिस के पास नहीं जाना चाहेंगे। उनका यह संकोच किसी शून्य से नहीं उपजा है। इसके पीछे ठोस ऐतिहासिक कारण हैं। उन्होंने विभिन्न साम्प्रदायिक दंगों में पुलिस के पक्षपात पूर्ण व्यवहार का दंश झेला है। मैंने खुद अपने शोध के दौरान और 35 वर्षों की भारतीय पुलिस सेवा की अवधि में ऐसे बहुत से मामले देखे हैं जब साम्प्रदायिक हिंसा की आग में लुटा पिटा कोई मुसलमान पुलिस के पास पहुंचा तो बजाय कन्धों पर आश्वस्ति कारक थपथपाहट के उसने अपने गालों पर एक झन्नाटेदार झापड़ पाया। 1984 में सिक्खों के अनुभव भी कुछ ऐसे ही थे जब दिल्ली जैसे शहर में भी पुलिस ने अधिकांश मामलों में मुसीबतजदा सिक्खों की मदद करने की जगह बलवाइयों का साथ दिया और कई मामलों में तो अगर पुलिस न पहुंची होती तो सिक्ख अपनी जान बचाने में कामयाब हो गये होते।

मैंने ऊपर जिन परिस्थितियों का जिक्र किया है उनमें किसी में भी वर्तमान कानूनों की अपर्याप्तता अथवा अक्षमता जिम्मेदार नहीं है। सभी के पीछे एक ही कारण है और वह है हमारे मन के अन्दर गहरे पैठी गहरी

दुर्भावना जो हमें खाकी पहनने के बाद भी हिन्दू या मुसलमान बनाये रखता है। भारतीय राज्य के विभिन्न अवयव आज भी हम और वे की मनोग्रंथि से पीड़ित हैं। मुसलमान उनके लिए अभी भी वे हैं। पुलिस के अधिकांश लोग मानते हैं कि दंगा मुसलमान शुरू करते हैं और दंगे को रोकने के लिए उनके पास सबसे आसान नुस्खा है मुसलमानों के साथ सख्ती। इसीलिए उन दंगों में भी, जिनमें शुरुआत से हिन्दू हमलावर दिखते हैं, पुलिस की कार्यवाही मुसलमानों के विरुद्ध ही होती दिखती है। एक औसत पुलिस कर्मी के मन में यह बात इतने गहरे बैठी है कि आम तौर से मुसलमान हिंसक और क्रूर होता है कि उसके लिए यह मान पाना कि कोई दंगा हिन्दुओं ने शुरू किया है या किसी दंगे में हिन्दू हमलावर हो सकते हैं लगभग असम्भव है। उसके लिए औसत हिन्दू आमतौर से उदार या अहिंसक होता है। मुझे याद है कि 1990 में जब रामजन्मभूमि आन्दोलन अपने चरम पर था और मैं इलाहाबाद में नियुक्त था, मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि पुलिस थानों में साम्प्रदायिकता के मोर्चे पर सिर्फ मुसलमानों के विरुद्ध इंटेलिजेंस उपलब्ध था। विश्व हिन्दू परिषद जैसे संगठन, जो खुले आम हिंसा भड़का रहे थे, के बारे में न के बराबर सूचनायें थीं। पुलिसकर्मियों को यह समझाने में मुझे बहुत मेहनत करनी पड़ी कि उन परिस्थितियों में हमारे राडार पर हिन्दू संगठन होने चाहिए न कि मुस्लिम। ऐसा नहीं कि भारतीय राज्य के अवयवों में सिर्फ पुलिस ही इस ग्रंथि से पीड़ित है। न्यायपालिका ने बहुत से मौक़ों पर निराश किया है। राजनैतिक नेतृत्व ने तो हमेशा उस इच्छा शक्ति का अभाव दिखाया है जो साम्प्रदायिक हिंसा से निपटने के लिए जरूरी है। भारतीय समाज की सच्चाई जानने वाले सहमत होंगे कि दंगे भड़क तो सकते हैं पर लम्बे तभी खिंचते हैं जब राज्य चाहता है। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि यदि कोई दंगा 24 घंटे से अधिक चल रहा है तो इस बात की जांच होनी चाहिए कि क्या राज्य का कोई अंग उसमें शरीक तो नहीं है। उपरोक्त के सन्दर्भ में हमें साम्प्रदायिक हिंसा के खिलाफ बनने वाले किसी भी कानून को परखना चाहिए।

जब इस बिल का पहला ड्राफ्ट विचार विमर्श के लिए वितरित हुआ था तब से आज तक कई बार इस पर विस्तार से चर्चा हुई है। इस पर हुए विमर्शों में राजनीतिक दलों, नागरिक अधिकार संघटनों तथा साम्प्रदायिकता से जुड़े मुद्दों पर काम करने वाली संस्थाओं से जुड़े लोगों ने भाग लिया है। मुझे भी कई बार इनमें भाग लेने का मौका मिला है। हर जगह एक आम राय बनी कि इस नये कानून में पहले से ही बहुत अधिकार प्राप्त पुलिस को और अधिक अधिकार दिये जा रहे हैं। क्या पुलिस इन अधिकारों का प्रयोग अल्पसंख्यकों की हिफाजत के लिए करेगी य इनका प्रयोग भी उनके खिलाफ ही होगा? ये बढ़े हुए अधिकार भारतीय राज्य को फासिस्ट तो नहीं बनायेंगे? इन सारे सवालों पर हमें विस्तार से विचार करना होगा। इस नये कानून में एक बहुत अच्छी बात यह हुई है कि पहली बार किसी कानून में हिंसा के शिकार व्यक्तियों के लिए क्षतिपूर्ति की वैधानिक व्यवस्था की गयी है। साथ ही अपने कर्तव्यों में असफल सरकारी कर्मचारियों को उनका उत्तरदायित्व निर्धारित करते हुए दंडित करने के प्राविधान भी इसमें है। मेरे विचार से यह एक बहुत महत्वपूर्ण कदम है। अंत में फिर वही एक प्रश्न क्या महज कानून को अधिक सख्त बनाने से साम्प्रदायिकता की समस्या से निजात पायी जा सकती है? या इसके लिए भारतीय राज्य की संस्थाओं को अधिक सम्वेदनशील और वैज्ञानिक चेतना से लैस करना होगा? मुझे लगता है कि कानूनों से अधिक हमें अपने दिमागी-जालों को साफ करना होगा।